बच्चों के खेल : हिमालय के एक गाँव की यादें

निमरत खण्डपुर

सिक्किम के एक गाँव ग्नथांग में बच्चे जिस तरह के खेल खेलते हैं, इस लेख में मैंने उसकी कुछ झलकियाँ प्रस्तुत की हैं। भूटान में दाख़िल होने से पहले यह गाँव सिल्क रूट के व्यापारियों का आख़िरी पड़ाव हुआ करता था। हालाँकि अब काफ़ी लोग गाँव से बाहर चले गए हैं और सैलानियों का आना-जाना भी काफ़ी बढ़ गया है, फिर भी ग्नथांग में जीवन आज भी कठिन है। समुद्र तल से 13800 फ़ीट की ऊँचाई पर स्थित ग्नथांग का मौसम काफ़ी डरावना है, ज़्यादातर समय बर्फ़बारी और बारिश होती रहती है, धूप तो बस कुछ महीने ही देखने को मिलती है। कई बार बर्फ़ और खिसकती हुई चट्टानें गाँव को बाहरी दुनिया से पूरी तरह काट देती हैं; और फिर कुछ दिन ऐसे भी होते हैं जब उस नीरसता से गाँव को उबारने के लिए धूप खिलती है। जिन दिनों मैं ग्नथांग में थी वहाँ एक मिडिल स्कूल हुआ करता था लेकिन शहरों की ओर प्रवासन के कारण अब वह लगभग बन्द हो चुका है।

हालाँकि गाँव के कुछ घरों में टीवी थे, लेकिन बिजली वहाँ कभी-कभार ही आती थी और इतनी ऊँचाई पर बसे उस गाँव का कठोर मौसम भी डिश को रास नहीं आता था, सो गाँव के बच्चे टीवी देखने से काफ़ी हद तक बचे हुए थे। लेकिन रेडियो ने उन्हें हिन्दी गानों से जोड़ दिया था। एक दिन सैर करते हुए घाटी के नज़ारों का आनन्द लेने के लिए जब मैं एक जगह रुकी हुई थी, मुझे औरतों और बच्चों की एक कतार नज़र आई जो धीरे-धीरे ढलान पर चढ़ रहे थे, सूखी लकड़ी से भरी टोकरियाँ उनकी पीठों पर लदी थी। मैं उनके गीत को सुन सकती थी, हालाँकि बोल कुछ समझ में नहीं आ रहे थे, लेकिन उसमें दिल को खींच लेने वाली एक ख़ूबसूरती थी, जो दरख़्तों पर झूलती हुई-सी महसूस होती थी। जब वह नज़दीक आए तो पता चला कि वह तो हिन्दी फ़िल्म का एक मशहूर गाना गा रहे थे, 'परदेसी परदेसी जाना नहीं, मुझे छोड़ के...।'

किसी रविवार वाले दिन जब धूप खिली होती, तो गाँव की किसी-न-किसी गली में अक्सर एक तम्बोला पार्टी की जाती, जो बड़ों के लिए होती थी। जिसकी तैयारी बस आनन-फानन में ही हो जाती। लोग छतों पर या फिर बाहर खुले में धूप वाली साईड में जहाँ से बर्फ़ पिघल चुकी होती, या सुखाने के लिए रखी याक की किसी खाल पर पालथी मारकर बैठ जाते। यहाँ तक कि बुज़ुर्ग भी धूप में बैठकर ताश खेलते थे। लेकिन अगर सूरज कोहरे या बादलों के पीछे छुप जाता, और कुछ भी करने को न बचता तो फिर वह शराब की एक या दो लाईसैंसशुदा दुकानों पर नज़र आते। लगभग हर कोई, हर किसी का रिश्तेदार ही था, सो ख़ूब गपशप होती, जैसा कि बड़ों में आमतौर पर होता है।

लेकिन बड़ों की तरह यह गपशप बच्चों को अपनी तरफ़ नहीं खींचती थी, और तम्बोला में भी उनकी भागीदारी कुछ ख़ास-ख़ास मौकों पर ही होती थी, जब अचानक किसी बात पर लोगों में जोश-सा फूटता तो बच्चे भी उसमें शामिल हो जाते और खूब हो-हल्ला मचाते। रग्बी और फ़ुटबाल को मिला-जुलाकर बनाए गए खेल बस स्कूली मैदानों में खेले जाते और वह भी सिर्फ़ अच्छे मौसम में, जो कि साल में बस कुछ ही महीनों का होता। ताश खेलना उन्हें पसन्द था- आज भी मेरे मन में वह तस्वीर बनी हुई है, एक गोल दायरे में एकदम तनकर, चौकन्ने बैठे नन्हे बच्चे अपने छोटे-छोटे हाथों में ताश के पत्तों को पंखे की तरह फैलाए ऐसा दिखाते मानो बड़ी संजीदगी से खेल रहे हों।

बेशक दूसरी जगह के बच्चों की तरह ग्नथांग के बच्चे भी नए-नए खेल बनाने में उतने ही होशियार और कल्पनाओं से भरे थे फ़र्क़ बस इतना है कि उनके खेल मौसम से जुड़े हुए थे। मेरे ख़्याल में बर्फ़बारी के दिनों में उनकी कला पूरी तरह खुलकर सामने आती थी। जो भी तरह-तरह की चीज़ें वह बनाते, वो देखने में बिलकुल साधारण-सी लगतीं, लेकिन उनमें प्रतिभा का एक पुट छुपा रहता था। भरपूर सर्दी के दिनों में जब ख़ूब बर्फ़ पड़ती, यह बच्चे इधर-उधर बेकार फेंकी हुई चीज़ों से कमाल के स्कीज़ और स्लेज (बर्फ़ पर चलने वाली गाड़ियाँ) बनाते, जो बख़ूबी अपना काम करती। वह रबड़ के हल्के घुमावदार टुकड़े लेते और उन्हें ठीक बीच तक काटकर उनमें लकड़ी की छड़ों को खम्भों की तरह लगाते और स्कीज़ गाड़ी बना लेते। पुराने क्रेट के दोनों बाजुओं को काटकर, उसके दोनों तरफ़ लकड़ी के तख़्तों को कील से जोड़ा जाता और स्लेज बना ली जाती। वह उन स्लेजों को अपने हाथों से खींचते, जिससे उनकी माताओं को अक्सर यह शिकायत रहती कि एक ही सर्दी में वह कितने ही दस्तानों की धज्जियाँ उड़ा देते हैं! लेकिन सड़कों और ढलानों पर जमी हुई बर्फ़ पर जब वह

फिसलते हुए जाते, तो वह नज़ारा देखने लायक होता था, सुर्ख चेहरे, बहती हुई आँखें, उत्तेजना में डूबे चिल्लाते, धूम मचाते हुए।

एक बहुत ही दिलचस्प खेल मैंने उनसे सीखा जो वह बर्फ़ के साथ खेलते। अगर आप बर्फ़ से ढकी किसी ढलान के ऊपरी सिरे पर खड़े हैं, तो बर्फ़ का एक छोटा-सा गोला बनाएँ और उसे अहिस्ता से ढलान पर लुढ़का दें। आप देखेंगे कि जैसे-जैसे वह नीचे लुढ़कता जाता है अपने साथ और बर्फ़ को जोड़ता चला जाता है, और उसके पीछे एक अजीब-सी पगडण्डी बनती चली जाती है, जो किसी बाल-येती (हिम-मानव) के पैरों के निशानों जैसी लग सकती है! और जब बच्चों का एक पूरा समूह एक साथ यह करता है तो उसका नज़ारा एकदम चौंकाने वाला होता है।

जब बर्फ़ पिघलनी शुरू होती तो जिन परिवारों के पास ईंधन ख़त्म हो जाता वह अपने बच्चों को जुनिपर की टहनियाँ इकट्ठी करने के लिए भेजते। यह एक बड़ी मुहिम होती थी- दोस्तों के गिरोह बनते, छोटे भाई-बहन साथ हो लेते और निगाह रखने के लिए कुछ बड़ी उम्र की औरतें भी साथ जातीं। बच्चों के पास, बड़ों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली टोकरियों जैसी ही छोटी-छोटी टोकरियाँ होतीं, जो उनकी पीठों पर झूलती रहतीं, और चाकू या कुल्हाड़ियाँ भी बिलकुल बड़ों जैसे ही होते थे, जिन्हें बैल्टों या कमर के गिर्द बँधे कपड़ों में बड़े नाटकीय अन्दाज़ में खोंसा जाता था। हर तरफ़ जमकर मस्ती होती और गीत गाए जाते, अलग-अलग टोलियाँ खूब शोर मचाती चलतीं।

और फिर जब बारिश आती तो बच्चों को एक तरह से बिलकुल खुला और आज़ाद छोड़ दिया जाता। वे गाँव के नीचे घाटी में बनी फ़ौजियों की छावनियों तक चले जाते, घरों और परिवारों से बेहद दूर बैठे, फ़ौजियों को उन्हें देखकर बरबस अपने बच्चों की याद सताने लगती और वह उनके साथ खूब लाड़-प्यार करते। हाथों में छड़ियाँ लिए, ढलानों पर उग आए बेशुमार फूलों के सिरों को काटते, वह पहाड़ी के कभी ऊपर तो कभी नीचे छलाँगें लगाते फिरते। घाटी को बीचों-बीच से काटती हुई नदी की धारा तक जाना उनका सबसे पसन्दीदा खेल होता, जहाँ वे जुगाड़ से बनी मछली पकड़ने वाली छड़ों से मछली पकड़ने की कोशिश करते। हालाँकि मछली पकड़ने में कामयाबी तो कभी-कभार ही मिलती लेकिन उनकी मेहनत भरपूर रंग लाती जब किनारों पर दूर-दूर तक उगी स्वादिष्ट जंगली स्ट्राबेरियाँ अच्छी-ख़ासी मात्रा में उनके हाथ लग जातीं।

बेशक खेलों के उनके पिटारे में भी कल्पना के लिए भरपूर गुंजाइश रहती थी, और उन्हें भी दिलचस्प लगने वाले बड़ों की नकल उतारने में मज़ा आता, और उनके लिए तो जिस भी यूनिट की तैनाती घाटी में होती उसके जवान ही सबसे दिलचस्प होते। यूनिट के परिसर में होने वाले हर समारोह को ऊँची जगहों पर बैठे बच्चों के यह झुण्ड बड़े ग़ौर से देखते थे। उनमें से ज़्यादातर यही कहते कि बड़े होकर वे सेना में भर्ती होंगे। बाद में बच्चों ने भले ही कुछ और किया हो, लेकिन उस समय तो वे सचमुच ही उन बालिगों से सम्मोहित थे। और इस बात का सबूत मुझे साफ़-साफ़ देखने को मिला जब एक बार मैं एक खड़ी ढ़लान पर चढ़ने की कोशिश कर रही थी। मैंने बहुत-ही छोटे-छोटे बच्चों की एक पलटन को टेड़ी-मेड़ी कतार में 'मार्च' करते हुए पास से गुज़रते हुए देखा, उनकी अगवाई एक किशोर उम्र का लड़का कर रहा था, जिसने हाथ में एक छड़ी पकड़ रखी थी, जो शायद झूठ-मूठ के उन अति-उत्साही फ़ौजियों पर रौब डालने के लिए थी। जैसे ही वे मेरे क़रीब पहुँचे तो लीडर ने फुसफुसाकर उनसे कुछ कहा। जैसे ही वह मेरे पास से गुज़रे तो उन्होंने अपनी मुस्कान बिखरते हुए नमस्ते की और साथ ही अपने मैले-कुचैले हाथों को अटपटे ढंग से माथे तक उठाया और सलूट किया, हालाँकि स्वेटरों और उसके ऊपर पहने हुए कोट की वजह से उनके बाज़ू को ऊपर उठने में बड़ी मशक्कत करनी पड़ी।

जैसा कि हर जगह होता है, उस गाँव में भी उत्सव के दिन बच्चों के लिए ख़ास उत्साह से भरे होते थे। जिनमें से एक था लोसर, यानी तिब्बती नया साल, वह दिन सभी बच्चों के लिए, भले ही वह तिब्बती हों या नेपाली, खूब मज़े और खाने-पीने का दिन होता। ऐसा ही एक दिन बुद्ध पूर्णिमा का भी होता, जिसके लिए उनके मन में बहुत आकर्षण था, क्योंकि उस दिन बड़ी उम्र के लोग रंग-बिरंगी पोशाकें पहनते, विग और चेहरों पर मुखौटे लगाते और फिर एक शोभायात्रा निकाली जाती जो दो घाटियाँ के पार दूसरे गाँव में जाकर ख़त्म होती। इसी तरह तिब्बत दिवस पर पारम्परिक पोशाकें पहने तिब्बती वयस्क और सारे बच्चे गोम्पा में इकट्ठे होते, जो एक तरह का पूजा-स्थल था। वहाँ पर कुछ भाषण दिए जाते, उसके बाद गाँव में एक जुलूस निकाला जाता। लोग दलाई लामा की तस्वीरें और बैनर उठाए हुए, गलियों में नारे लगाते हुए निकलते और वापस गोम्पा तक आते।

शादियों में भी खूब मज़ा होता था, पूरे गाँव को खाने की दावत पर बुलाया जाता, गएका जैसे ख़ास पकवान तैयार करने के लिए रसोईए ख़ासतौर पर गंगटोक और कलिम्पोंग से बुलवाए जाते। इन पकवानों में माँस की खूब मोटी-मोटी डलियाँ और नूडल होते थे। ऐसे मौकों पर, अक्सर ऐसा लगता कि उस बड़े ताम-झाम वाले आयोजन के बीच बच्चे अपना ही एक छोटा-मोटा-सा जश्न मना रहे होते।

ग्नथांग के बच्चे मेरे दोस्त थे और यह सोचकर मुझे बहुत रोमांच होता है कि मैंने भी कुछ नए खेल सीखने में उनकी

मदद की। यह ग्नथांग में बिताई मेरी आख़िरी सर्दियों के दिन थे, बर्फ़बारी से पहले हवा बहुत तेज़ हो गई थी, ऊपर से गिरते हुए तापमान की वजह से उसकी ठंडक ऐसी थी जो चीरती हुई भीतर तक उतर जाती, ऐसे मौसम में सैर के लिए जाना एक भारी जद्दोजहद का काम हो गया था। सो मैंने गोल्फ की कुछ छड़ियाँ और गेंदों का एक पैकेट लिया और एक खाली झोपड़ी की टीन की छत पर उन गेंदों को आगे-पीछे लुढ़काना शुरू किया। जल्द ही बच्चों की एक छोटी-सी टोली वहाँ इकट्ठी हो गई, जो चुपचाप मुझे देख रही थी। बच्चे मेरी तरफ अक्सर ऐसे ही उत्सुकता से देखा करते थे, सो मुझे इसकी आदत-सी हो गई थी, इसलिए शुरू में तो मैंने उनकी इस दिलचस्पी पर कुछ ध्यान नहीं दिया, फिर एक दिन मैंने देखा कि कुछ लड़के हल्की मुड़ी हुई छड़ी को घुमाकर गेंद को यूँ उछाल रहे थे कि वह एक बहुत ही सुन्दर धनुष जैसी चाप बनाती हुई हवा में जाती।

ऐसा नहीं है कि गोल्फ़ जैसा यह खेल ही ग्नथांग की खेल पिटारी में मेरा एकमात्र योगदान था। एक दिन जब बर्फ़बारी रुक चुकी थी, और खिली हुई धूप में मैं टहलने निकली, मैंने देखा कि गर्म कपड़ों में लिपटे बच्चों की एक टोली, जिसमें तीन से दस साल तक के बच्चे थे, बड़ी ही मेहनत के साथ हिम-मानव बनाने में जुटी हुई थी, इस बात से बिलकुल बेख़बर कि उनकी नाक ठण्ड के मारे सुर्ख लाल हो रही थी। और एक बार फिर, जैसे ही बर्फ़ पड़नी शुरू होती है, बड़े लोग फिर से अपनी बैठकों में अलाव जलाकर उसके इर्द-गिर्द झुरमुट बनाए बैठे होते हैं और बाहर, बच्चों के लिए खेलों का एक नया दौर फिर से शुरू हो जाता है!

निमरत खण्डपुर पिछले आठ सालों से अज़ीम प्रेमजी फ़ाउंडेशन के साथ जुड़ी हुई हैं। इन दिनों वह स्कूल ऑफ़ कंटीन्यूइंग एजुकेशन एंड यूनिवर्सिटी रिसोर्स सेंटर, अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का हिस्सा हैं, जहाँ वह पेशेवर विकास कार्यक्रमों और शिक्षा नीति से जुड़े कामों में अपना योगदान देती हैं। उनसे *nimrat.kaur@azimpremjifoundation.org* पर सम्पर्क किया जा सकता है।

अनुवाद : बलराम बोधि **पुनरीक्षण** तथा **कॉपी एडीटिंग :** स्वाति भदौरिया